



Date:21-07-22

Saving mothers

Data on MMR should lead to restructuring health-care systems for women.

Editorial

Few things in science or social science are as incontestable as the importance of maternal health to human development. Maternal mortality indicates a woman's ability to access health care, contraceptive devices, nutrition, and, in a sense, is a mark of the efficiency of a health-care system in responding to demands made of it. A recent study published in the peer-reviewed journal, PLOS Global Public Health, casts a shadow over the progress of health care targeting women in the country, but also, questions the reliability of the country's own periodic estimates of maternal mortality ratio, or MMR (number of mothers who die from complications in pregnancy for every one lakh live births.) Researchers from the International Institute for Population Sciences triangulated data from routine records of maternal deaths under the Health Management Information System, with Census data and the Sample Registration System (SRS) to provide the MMR for all States and districts of India. The analysis suggests that 70% of districts (448 out of 640 districts) in India have reported MMR above 70 deaths — a target under the United Nations' Sustainable Development Goals (SDG). Many of the districts in southern India and Maharashtra have an MMR of less than 70. At the same time, the north-eastern and central regions have the least number of districts (12 and six districts, respectively) with an MMR less than 70. Significantly, it also demonstrates the presence of huge within-State inequalities, even among the better performers — Karnataka, Tamil Nadu, Kerala, Andhra Pradesh, and Telangana. Similar heterogeneity was observed in other States as well. According to the SRS (2016-18), only Assam (215) has an MMR of more than 200, while in this district-level assessment, the indications are that about 130 districts have reported above 200 MMR.

It is ironic that as the nation plans to celebrate the 75th anniversary of Independence grandly, so many districts still show a very high MMR, clearly indicative of the inadequacy of responsiveness of health systems. But that is not the only reason. There is adequate proof that improvements in access to contraceptives, antenatal care, post-delivery health care, body mass index, and the economic status, besides a concerted reduction of higher-order births, births in higher ages, will help reduce MMR. The message during this milestone anniversary year is two pronged: improve overall care for women, and keep real time track of such crucial health data. Immediate action is required to meet the SDG goal regarding MMR. Ultimately, it is more than about just the numbers. There are people — mothers and infants, entire families — behind these numbers who will benefit from such an urgent and intense action on reducing eminently preventable deaths.



Date:21-07-22

रुपये को वैश्विक मुद्रा बनाने का मौका

मुनि शंकर पांडेय, (लेखक पालिसी वाच इंडिया में नीति विश्लेषक एवं आर्थिक मामलों के जानकार हैं)

पिछले दिनों आरबीआइ ने भारत के मौद्रिक इतिहास का एक साहसिक निर्णय लेते हुए घोषणा की कि भारत का अंतरराष्ट्रीय व्यापार भारतीय रुपये में भी होगा। इसके अनुसार भारतीय निर्यातकों और आयातकों को अब व्यापार के लिए डालर की अनिवार्यता नहीं रहेगी। अब दुनिया का कोई भी देश भारत से सीधे बिना अमेरिकी डालर के व्यापार कर सकता है। आरबीआइ के इस कदम से भारतीय रुपये को अंतरराष्ट्रीय व्यापार में एक करेंसी के लिए स्वीकार करवाने की दिशा में मदद मिलेगी। यह निर्णय भारतीय विदेश व्यापार को बढ़ाने के प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी की अभिलाषा के भी अनुरूप है। इससे भारत के वैश्विक उद्देश्यों को साधने के साथ-साथ भारतीय अर्थव्यवस्था को दीर्घकालिक मजबूती मिलेगी। हालांकि इसके तात्कालिक प्रभाव का भी आकलन करना होगा।

सबसे पहले अमेरिकी डालर के वैश्विक मुद्रा के रूप में स्वीकृति और दबदबे को समझने की आवश्यकता है। इंटरनेशनल स्टैंडर्ड्स आर्गनाइजेशन लिस्ट के अनुसार दुनिया भर में कुल 185 मुद्राएं हैं, लेकिन सभी देशों के केंद्रीय बैंकों में जमा कुल विदेशी मुद्रा भंडार का 64 प्रतिशत अमेरिकी डालर है। दुनिया के संपूर्ण व्यापार का 85 प्रतिशत व्यापार डालर में होता है। संसार के समस्त कर्जों में डालर की हिस्सेदारी 39 प्रतिशत है। यही कारण है कि अमेरिकी डालर दुनिया की सबसे स्वीकार्य मुद्रा है।

वैसे तो अर्थशास्त्र का एक सामान्य नियम यह है कि अगर किसी देश की मुद्रा मजबूत होती है तो उसकी अर्थव्यवस्था पर कई नकारात्मक असर पड़ते हैं, लेकिन अमेरिका के मामले में इसका उलट होता है। जैसे ही अमेरिकी डालर मजबूत होता है, वैसे ही तमाम वैश्विक निवेशक अमेरिकी अर्थव्यवस्था में वापस लौट आते हैं। डालर के मजबूत होने से उसका आयात सस्ता हो जाता है, जिससे सामान्य उपभोग की आयातित चीजें सस्ती हो जाती हैं। अमेरिकी अर्थव्यवस्था का 70 प्रतिशत हिस्सा उपभोग पर आधारित है। हालांकि दुनिया को कई बार इसका नुकसान भी उठाना पड़ता है। जैसे वर्ष 2008 में अमेरिका की अपनी स्थानीय नीतियों के कारण आई मंदी ने पूरे विश्व की अर्थव्यवस्था को हिला दिया। इसके बाद चीन और रूस जैसे देशों ने अंतरराष्ट्रीय व्यापार में अमेरिकी डालर के वर्चस्व को तोड़ने की आवश्यकता पर जोर दिया। कालांतर में चीन और रूस ने आपसी व्यापार अपनी-अपनी मुद्रा में शुरू कर दिया। रूस के केंद्रीय बैंक के अनुसार वित्तीय वर्ष 2020-21 की पहली तिमाही में रूस और चीन के बीच व्यापार में डालर की हिस्सेदारी पहली बार 50 प्रतिशत के नीचे चली गई, जो कि 2015-16 में 90 प्रतिशत थी। रूस-यूक्रेन युद्ध के बाद जब रूस पर अमेरिका ने प्रतिबंध लगाए, तब भी चीन-रूस का व्यापार यथावत जारी रहा। हाल के वर्षों में जब हमारा सामना कोविड महामारी, वैश्विक आपूर्ति श्रृंखला में बाधा और रूस-यूक्रेन युद्ध के बाद पैदा हुई आर्थिक उथल-पुथल से हुआ, तब भारत के नीति नियंता भी देश के आर्थिक हितों के संबंध में सोचने पर विवश हुए। वैश्विक अर्थव्यवस्था में किसी भी रूप में एकाधिकारी प्रवृत्ति या किसी भी आपूर्ति के लिए एक देश पर निर्भरता भारत के दीर्घकालिक हितों के प्रतिकूल है।

किसी देश की मुद्रा की कीमत के निर्धारण में उसके आयात-निर्यात के आकार, अर्थव्यवस्था का प्रबंधन और वैश्विक आर्थिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों का हाथ होता है। हाल में डालर की तुलना में रुपया भले ही कमजोर हुआ है, लेकिन अन्य मुद्राओं की अपेक्षा सबसे कम गिरा है। जापानी येन, चीनी युआन सहित अन्य मुद्राओं की तुलना में तो रुपया मजबूत ही हुआ है। अभी एक अमेरिकी डालर के बदले 138 जापानी येन मिल रहे हैं, जबकि 2018 में 110 येन मिलते थे। वहीं 2007 में एक यूरो के बदले 1.60 डालर मिलता था, जबकि अब एक यूरो एक डालर के बराबर हो गया है। भारतीय रुपये की मजबूती का कारण भारत में राजनीतिक स्थिरता, भारतीय अर्थव्यवस्था के आधारभूत तत्वों का मजबूत होना और मुद्रास्फीति के बावजूद भारत में लगातार मांग का बने रहना है। भारत आज विश्व की सर्वाधिक तेजी के साथ रिकवरी करने वाली अर्थव्यवस्था में भी शामिल है। यह कहा जा सकता है कि आगामी वर्षों में जैसे-जैसे भारतीय अर्थव्यवस्था का आकार बढ़ेगा और निर्यात में उत्तरोत्तर वृद्धि होगी, वैसे-वैसे भारतीय रुपया भी मजबूत हो सकता है।

अब आरबीआइ के सामने सबसे बड़ी चुनौती अपने निर्णय को वैश्विक स्तर पर लागू करवाने की होगी। इसके लिए उसे बड़े पैमाने पर भारतीय बैंकों की वैश्विक उपस्थिति सुनिश्चित करनी होगी। करोबारी देश के केंद्रीय बैंकों से समायोजन करना होगा। रुपये में लेन-देन के लिए देश के आयातकों और निर्यातकों को किसी भी व्यावसायिक बैंक में रुपया वोस्ट्रो खाता खोलना होगा। फिर रुपये का मूल्य वास्तविक बाजार मूल्य पर निर्धारित करते हुए उस देश की मुद्रा में सीधे हस्तांतरित किया जा सकेगा। इसका तत्कालिक लाभ भारत को ईरान, रूस के साथ उन देशों के साथ व्यापार में भी मिलेगा, जिनके पास या तो अमेरिकी डालर नहीं है या जो अमेरिकी प्रतिबंधों के कारण व्यापार नहीं कर पा रहे।

चूंकि भारत अपनी आवश्यकताओं का 90 प्रतिशत तेल और गैस आयात करता है, इसलिए रुपये में व्यापार से भारत लाभ की स्थिति में होगा। कुल मिलाकर आरबीआइ के इस निर्णय से भारत की बढ़ती वैश्विक स्वीकार्यता और लगातार बढ़ रहे कद के कारण रुपये को अंतरराष्ट्रीय करेंसी के रूप में स्थापित करने में मदद करेगी।

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date:21-07-22

कल्याणकारी मॉडल की सीमा

संपादकीय

गत सप्ताह प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने लोकलुभावन राजनीति को लेकर एक नई बहस छेड़ दी। उन्होंने मुफ्त चीजों की पेशकश करके वोट जुटाने वाले राजनेताओं पर निशाना साधा और इसे 'रेवड़ी' बांटने जैसा बताते हुए कहा कि राजनीति में यह व्यवहार बंद होना चाहिए। हालांकि मोदी ने किसी का नाम नहीं लिया लेकिन दिल्ली के मुख्यमंत्री अरविंद केजरीवाल ने इस टिप्पणी को अपने ऊपर लिया। उन्होंने उसी शाम प्रत्युत्तर देते हुए कहा कि उनका दिल्ली मॉडल वोट जुटाने के लिए मुफ्त पेशकश करने से दूर कमजोर आय वाले लोगों को निःशुल्क शिक्षा, स्वास्थ्य, बिजली और पानी सुनिश्चित करके 'देश की अर्थव्यवस्था की बुनियाद' रखने की कोशिश कर रहा है।

प्रधानमंत्री की टिप्पणी और दिल्ली के मुख्यमंत्री की प्रतिक्रिया ने एक बार फिर सबका ध्यान लोकलुभावनवाद के प्रतिस्पर्धी मॉडलों और उनके कथित प्रभाव की ओर आकृष्ट किया है। इसमें दो राय नहीं कि रणनीतिक लोकलुभावनवाद के एक नए मॉडल ने मोदी के नेतृत्व में भारतीय जनता पार्टी (भाजपा) को निरंतर चुनावी सफलताएं दिलाने में मदद की है। मुफ्त साइकिल, लैपटॉप, मिक्सर ग्राइंडर, गाय, बकरी या स्वास्थ्य एवं शिक्षा के स्थान पर भाजपा की केंद्र सरकार ने निम्न और मध्य आयवर्ग वाले समूहों को अनिवार्य रूप से स्पर्श करने वाले बिंदुओं पर ध्यान केंद्रित किया है। सन 2014 से ही उसने कम आय वर्ग के लोगों के लिए सफाई, घरेलू गैस, बैंकिंग, आवास, स्वास्थ्य बीमा और मातृत्व सुरक्षा पर ध्यान दिया है।

अहम बात यह है कि इनमें से कोई भी चीज पूरी तरह मुफ्त नहीं है। जैसा कि घरेलू गैस योजना के लाभार्थियों को बाद में समझ में आया। हालांकि इन पर भारी सब्सिडी दी जाती है। सरकार को यह सुविधा मिलती है कि वह कुछ उत्पादन लागत वसूल कर सके और सतत आपूर्ति मॉडल की मदद से इन सेवाओं को जारी रख सकें।

कुछ ही अर्थशास्त्री इस मॉडल में कमी निकालेंगे। हालांकि व्यवहार में इसकी सफलता पर सवाल उठाए जा सकते हैं। आजादी के बाद के सात दशकों में ऐसी मुफ्त वाली नीतियों की बदौलत बिजली और सरकारी बैंकिंग तंत्र में कई गड़बड़ियां सामने आईं। किसानों को मुफ्त बिजली और ऋण मेले आदि इसके उदाहरण हैं। दूसरी ओर केजरीवाल ने एक ऐसा मॉडल तैयार किया है जिसने चुनावी नतीजों में वैसी ही सफलता दिलाई है लेकिन यह मॉडल दिल्ली को उपलब्ध वित्तीय सुरक्षा पर आधारित है। दिल्ली का कर संग्रह अच्छा है और वह देश के सबसे अधिक प्रति व्यक्ति आय वाले राज्यों में शामिल है। इसके अलावा केवल तमिलनाडु में जयललिता ही ऐसा मुफ्त उपहारों पर आधारित प्रशासन कायम कर सकी थीं क्योंकि उनका राज्य भी आर्थिक दृष्टि से मजबूत और विनिर्माण का गढ़ था। दिल्ली के साथ एक और लाभ यह जुड़ा है कि उसे पुलिस बल का खर्च नहीं उठाना पड़ता क्योंकि वह केंद्र के अधीन है। इसके अलावा बिजली और जलापूर्ति से संबंधित क्रॉस सब्सिडी भी केजरीवाल को अपने लोकलुभावन कल्याण मॉडल को चलाने में मदद करती हैं। हालांकि आम आदमी पार्टी को अपने इस मॉडल को अन्य राज्यों में दोहराने में मुश्किल होगी। पंजाब में यह दिखायी भी पड़ रहा है क्योंकि वह देश के सर्वाधिक कर्जग्रस्त राज्यों में से एक है।

यह कहा जा सकता है कि मोदी ने पुनर्वितरण का जो मॉडल अपनाया उसमें शिक्षा और स्वास्थ्य पर कम ध्यान दिया गया है लेकिन यह यकीनन लाभार्थियों खासकर महिलाओं और बच्चों के लिए उपयोगी साबित हुआ है। आने वाले दिनों में उनकी सरकार की परीक्षा यह है कि वह परिवहन ईंधन, खाद्य और उर्वरक सब्सिडी में निहित लोकलुभावनवाद को किस हद तक संभाल सकती है क्योंकि सरकारी व्यय का बड़ा हिस्सा इनमें जाता है और इनकी कीमतें लगातार बढ़नी हैं। ये सब्सिडी रेवड़ी नहीं हैं लेकिन चुनाव नतीजों पर उनका असर अवश्य होता है और यह बात बताती है कि सभी कल्याणकारी मॉडलों की अपनी सीमा है।

प्रदूषण से गहराता संकट

रघु ठाकुर



देश में प्रदूषण की समस्या गंभीर होती जा रही है। वैसे तो प्रदूषण के कई प्रकार हैं। वायु प्रदूषण, जल प्रदूषण, ध्वनि प्रदूषण, मृदा प्रदूषण, खाद्यान्न में प्रदूषण आदि। लेकिन धुआं, धूल और ध्वनि से होने वाला प्रदूषण जिस तरह तेजी से खतरनाक रूप ले चुका है, वह बेहद चिंताजनक है। कुछ समय पहले अमेरिका के शिकागो विश्वविद्यालय में वायु गुणवत्ता पर किए गए एक अध्ययन 'एअर क्वालिटी इंडेक्स' में यह सामने आया कि बांग्लादेश के बाद भारत दूसरा सबसे प्रदूषित देश है। भारत की नब्बे फीसद से ज्यादा आबादी प्रदूषित वायु में सांस ले रही है। इनमें से भी तिरसठ फीसद लोग (लगभग सत्तर करोड़) तकनीकी रूप से बेहद खतरनाक

वायु प्रदूषण का शिकार हैं। इसका प्रभाव यह हुआ है कि भारतीयों की औसत उम्र पांच वर्ष कम हो गई है। उत्तर भारत में तो औसत उम्र साढ़े सात वर्ष कम हुई है। और देश की राजधानी दिल्ली के लोगों की औसत आयु दस साल कम हुई है।

इतना ही नहीं, इस अध्ययन में यह भी कहा गया है कि वैश्विक स्तर पर प्रदूषण बढ़ाने में भारत का योगदान चौवालीस फीसद रहा है। विश्व स्वास्थ्य संगठन (डब्ल्यूएचओ) के अनुसार हवा में सूक्ष्म कणों की मात्रा (पीएम) ढाई से लेकर पांच माइक्रोग्राम के बीच होनी चाहिए, परंतु भारत के ज्यादातर इलाकों में वर्ष 2020 में यह मात्रा 76.2 माइक्रोग्राम प्रति घनमीटर रही। यानी अधिकतम निर्धारित सीमा से पंद्रह गुना ज्यादा। अनेक अध्ययनों ने पराली जलने से वायु प्रदूषण होने के आरोपों का खंडन किया है और बताया है कि कुल वायु प्रदूषण में पराली के धुएं की हिस्सेदारी बमुश्किल चार फीसद है, जबकि गाड़ियों के धुएं का प्रदूषण साठ फीसद से अधिक है। यहां तक कि कारखानों के प्रदूषण से भी ज्यादा है।

गौरतलब है कि लगभग चालीस-पचास साल पहले कारखानों के धुएं का प्रदूषण सर्वाधिक होता था। मुंबई के चेंबर इलाके को कारखानों के धुएं की वजह से 'गैस चेंबर' कहा जाने लगा था। कोयला अंचलों में और सीमेंट फैक्ट्री व चूने के काम वाले इलाकों में कोयले व धूल के जो कण निकलते हैं, उनका प्रभाव इतना अधिक है कि घरों के ऊपर और खेतों की जमीन के पर कोयले की काली परत, सीमेंट या एस्बेस्टस के इलाकों में चूने की सफेद परत और इसी प्रकार ताप बिजलीघरों के आसपास जमीन, मिट्टी, घर और यहां तक कि इंसान भी भूरे रंग से रंग जाते हैं। छत्तीसगढ़ की हसदेव आदि नदियों का तो ताप बिजलीघरों से निकलने वाली राख से पानी का रंग सफेद होकर दूध जैसा हो जाता है। रायगढ़

जिला जो स्पंज आयरन और इस्पात उत्पादन का प्रमुख केंद्र है, वहां धूल, धुआं और राक्षसी गति से दौड़ते डंपरों से आम आदमी की जान हमेशा खतरे में बनी रहती है। इसीलिए विकास के इन रूपों पर भी सवाल तो खड़े होते हैं।

दिल्ली में वायु प्रदूषण का बड़ा कारण मुख्यतः वाहनों से निकलने वाला धुआं है। हालात इतने गंभीर हैं कि हर आयु वर्ग का व्यक्ति यहां तक कि छोटे बच्चे भी इस वायु प्रदूषण के कारण गंभीर रोगों का शिकार हो रहे हैं। सर्दियों की शुरुआत में यह स्थिति और विकराल हो जाती है। जब यह मुद्दा शासन तंत्र के समक्ष उठता है और गंभीर रूप धारण करता दिखता है तो फिर सत्ता के केंद्र कुछ बातचीत और दिखावटी उपाय शुरू कर देते हैं, लेकिन स्थायी समाधान की दिशा में बढ़ता कोई नहीं दिखता। जब दिल्ली का धुआं सीमाओं को पार करने लगता है और श्रेष्ठीवर्ग और उनके परिवारों को प्रभावित करने लगता है, तब सत्ता तंत्र को यह चिंता जायज लगने लगती है। आज दिल्ली में एक करोड़ से ज्यादा वाहन हैं। एक ही परिवार में कई गाड़ियां रखने के चलन से यह समस्या ज्यादा बढ़ी है। जाहिर है, संपन्न तबका अपने हित और सुविधा को पहले देख रहा है।

सवाल है ऐसे में सरकार क्या कर सकती है? व्यावहारिक दृष्टि से ऐसे क्या कदम उठाए जा सकते हैं जो वायु प्रदूषण पर नियंत्रण पाने में मददगार साबित हो सकें? हालांकि दिल्ली में इस समस्या से निजात पाने के लिए यातायात की सम-विषम व्यवस्था शुरू की गई थी। लेकिन राजनीतिक कारणों से और ज्यादातर लोगों के विरोध के कारण यह प्रयोग कामयाब नहीं हो पाया। इस व्यवस्था से इतना तो निश्चित था कि सड़कों पर वाहनों का दबाव कम होता और वायु प्रदूषण में भी कमी तो आती। लेकिन ऐसे प्रयोगों को व्यावहारिक धरातल पर उतारने के लिए सार्वजनिक परिवहन व्यवस्था का मजबूत होना जरूरी है, जिसका कि ज्यादातर शहरों में अभाव है।

जहां तक बात है ध्वनि प्रदूषण की, तो स्थिति यह है कि शहरों में बजते हार्न और वाहनों का शोर लोगों को बहरेपन की समस्या की ओर धकेल रहा है। समाज के दकियानूसी पन, नागरिक समझ का अभाव, कुरीतियां और अंधविश्वास भी इसके कारण हैं। नियमों की धज्जियां उड़ाते हुए लाउडस्पीकरों का इस्तेमाल कोई नई समस्या नहीं है। रात दस या ग्यारह बजे बाद इनके इस्तेमाल पर पाबंदी का नियम ज्यादातर जगहों पर लागू है। लेकिन फिर भी देर रात तक इन्हें बजते सुना जा सकता है। डीजे की तेज ध्वनि तो इतनी घातक होती है कि आसपास घरों में कंपन्न तक महसूस होते हैं। लेकिन हैरानी की बात यह कि ऐसा करने वालों पर शायद ही कभी कार्रवाई होती हो। पुलिस कह सकती है कि हमें सूचना नहीं मिली। परंतु दूसरा पक्ष यह भी है कि पड़ोसियों की शिकायत करना एक कठिन कार्य है और बजाय इसके कि वे अपनी गलती महसूस करें, परिवार के मुखिया बच्चों को रोके, उल्टा यह कहना शुरू करेंगे कि देखिए बेटा की शादी है, इन्हें खुशी नहीं है।

रासायनिक खाद के इस्तेमाल से जमीन की उर्वरता खत्म हो रही है। आदमी को अनाज, फल और पानी में जहर मिल रहा है। स्थिति यह है कि हम जहर खा रहे हैं, जहर पी रहे हैं, जहर बो रहे हैं और जहर काट रहे हैं। जहरीली सांस ले रहे हैं और असहनीय ध्वनि के शिकार हो रहे हैं। ऐसे में सवाल उठता है कि आखिर इन समस्याओं का हल कैसे निकले। ऐसा नहीं कि ये मुश्किल काम है। अगर नागरिक व्यवहार की जरा भी समझ विकसित होने लगे और लोगों के साथ स्थानीय प्रशासन भी सहयोग का रवैया अपनाएं, तो हम अपने आसपास के वातावरण को प्रदूषण मुक्त बना सकते हैं।

जहां तक बात है कृषि कार्यों के लिए रासायनिक खाद के इस्तेमाल की, तो इसके प्रयोग को सीमित किया जाना बेहद जरूरी है, ताकि आबादी की तुलना में अनाज की उपलब्धता भी रहे और लोगों को जहर मुक्त अनाज, खाद्यान्न, फल

और सब्जी मिल सकें। जो किसान बगैर रासायनिक खाद के प्रयोग के खेती करें, उन्हें कम पैदावार की वजह से घाटा न हो, इसलिए उनकी फसल का दाम निर्धारित करते वक्त इस पहलू को ध्यान में रखा जाए।

वायु प्रदूषण पर नियंत्रण पाने के लिए जरूरी है कि वाहनों से निकलने वाले धुएं को रोकने के तरीकों पर विचार हो। हालांकि अब बिजली से चलने वाले वाहनों पर जोर दिया जा रहा है। लेकिन इसमें अभी लंबा वक्त लगना है। जहां कार जैसे निजी वाहनों की संख्या बेहद ज्यादा है, वहां 'एक परिवार एक कार' का नियम बनाने पर सोचा जा सकता है। हालांकि यह आसान नहीं है और न केवल लोगों के स्तर पर भारी विरोध देखने को मिल सकता है, बल्कि कार निर्माता कंपनियों को भी नागवार गुजरेगा।

इसी तरह सौर ऊर्जा के लिए देश में विपुल संभावनाएं हैं। इस क्षेत्र में काम हो भी रहा है। ऐसे में सरकार को चाहिए कि वह हर स्तर पर लोगों और उद्योगों को इसके लिए प्रोत्साहित करे, ताकि सस्ती और प्रदूषण रहित ऊर्जा प्राप्त हो सके।

राष्ट्रीय सहारा

Date:21-07-22

अस्सी पार डॉलर

संपादकीय



एक डॉलर की कीमत अस्सी रु पये से ऊपर जाने पर अर्थव्यवस्था में चिंताओं और चिंतन का बाजार नये सिरे से गर्म हो गया है। साल की शुरुआत से लेकर डॉलर रु पये के मुकाबले सात प्रतिशत मजबूत हो गया है यानी साल की शुरुआत में 100 रु पये में जितने डॉलर आते थे, उतने डॉलर अब खरीदने के लिए करीब 107 रु पये खर्च करने पड़ेंगे यानी मोटे तौर पर भारत का आयात महंगा हो गया। कुल मिलाकर महंगा होता डॉलर अर्थव्यवस्था के लिए अच्छी खबर नहीं है, निर्यातक अपवाद हैं। निर्यातकों के लिए मौज का समय है, बिना कुछ किए कराए उनकी आमदनी बढ़ गई है, एक डॉलर के बदले वे ज्यादा रु पये कमा रहे हैं। डॉलर के भाव इतनी तेजी से ऊपर जा क्यों रहे हैं। इसकी सामान्य वजह है कि अंतरराष्ट्रीय बाजार में डॉलर की मांग तेजी से

बढ़ गई है। कई देश कच्चे तेल की उपलब्धता को लेकर सशंकित हैं, तो वो बहुत तेज गति से कच्चा तेल खरीद रहे हैं। कच्चे तेल का कारोबार अधिकांशतः डॉलर में होता है। भारत में विदेशी मुद्रा का भंडार वैसे मजबूत स्थिति में है और

डॉलर जनित समस्याओं से निपटने में सक्षम है। पर देखने की बात यह है कि कुछ हफ्तों पहले भारत का विदेशी मुद्रा भंडार 642 अरब डॉलर के करीब था, जो गिरकर करीब 580 अरब डॉलर पर आ गया है यानी विदेशी मुद्रा कोष में कमी लगातार हो रही है। एक वजह तो यह है कि भारतीय पूंजी बाजार में विदेशी निवेशक तमाम प्रतिभूतियों को बेचकर अपने मूल देश वापस ले जा रहे हैं। ग्लोबल अनिश्चितता की वजह से वे ऐसा कर रहे हैं। विदेशी निवेशक जब भारत में आते हैं, तो डॉलर लाते हैं, जब वापस जाते हैं, तो डॉलर ले जाते हैं। प्रतिभूति निवेशकों की रकम वापसी के चलते ही देश से करीब 30 अरब डॉलर की रकम बाहर जा चुकी है, साल की शुरुआत से अब तक। सवाल है कि क्या ये आंकड़े आसन्न संकट का इशारा करते हैं, जवाब है बिल्कुल नहीं। 1991 में जब भारत ने विदेशी मुद्रा संकट का सामना किया था तब भारत के विदेशी मुद्रा कोष तत्कालीन विदेशी कर्ज के सिर्फ 7 प्रतिशत थे आज भारत के कुल विदेशी कर्ज की रकम की करीब 98 प्रतिशत राशि जितना विदेशी मुद्रा कोष भारत के पास है, यानी कुल मिलाकर डॉलर ने कुछ चुनौतियां पेश की हैं, संकट नहीं। निर्यात बढ़ोतरी से लेकर विदेशी मुद्रा हासिल करने के तमाम नये स्रोत तलाशे जाने चाहिए, एक सबक यह है, और दूसरा सबक है कि कच्चे तेल की बजाय ऊर्जा के दूसरे स्रोतों की तलाश का काम अब बहुत तेज गति से होना चाहिए।
